योग की बातें हमको लिख दीं। वह कागज हमारे पास है और मौखिक इस प्रकार समझाया कि जब रात तीन घड़ी शेष रह जाये उस समय उठकर मुंह हाथ धो पद्मासन लगाये। जहां तुम्हारी इच्छा हो बैठे, परन्तु स्थान निर्जन हो। गायत्री का अर्थ सहित ध्यान करो और वह अर्थ भी लिख दिया जो अबतक मेरे पास विद्यमान है। (लेखराम पृष्ठ २१५-२१६)

मूर्ति पूजा

हुगली-शास्त्रार्थ

(चैत्र शुक्ला एकादशी, संवत् १६३०, ८ अप्रैल, १८७३)

एक पण्डित ताराचरण तर्करत्न नामक भाटपाड़ा ग्राम के निवासी हैं। जो कि ग्राम हुगली के पार है। उस ग्राम में उनकी जन्मभूमि है। परन्तु आजकल श्रीयुत काशीराज महाराज के पास रहते हैं। संवत् १६२६ में वे अपनी जन्मभूमि में गये थे। वहां से कलिकाता में भी गये थे और किसी स्थान में ठहरे थे।

जिनके स्थान में मैं ठहरा था, उनका नाम श्रीयुत राजा ज्योतीन्द्र मोहन ठाकुर तथा राजा शौरिन्द्र मोहन ठाकुर है। उनके पास तीन बार जा-जाकरके ताराचरण ने प्रतिज्ञा की थी कि हम आज अवश्य शास्त्रार्थ करने को चलेंगे। ऐसे ही तीन दिन तक कहते रहे। परन्तु एक बार भी न आये। इस से बुद्धिमान् लोगों ने उनकी बात झूठी ही जान ली।

मैं कलिकाता से हुगली में आया और श्रीयुत वृन्दावनचन्द्र मण्डल जी के बाग में ठहरा था। सो एक दिन उन्होंने अपने स्थान में सभा की। उस में मैं भी वक्तृत्व करने के लिए गया था। तथा बहुत पुरुष सुनने को आये थे। उनसे मैं अपना अभिप्राय कहता था। वे सब लोग सुनते थे। उसी समय में ताराचरण पण्डित जी भी वहां आये। तब उनसे वृन्दावन चन्द्रादिकों ने कहा कि आप सभा में आइये। जो इच्छा हो, सो कहिये। परन्तु सभा के बीच में पण्डित ताराचरण नहीं आये। किन्तु ऊपर जाकर दूर से गर्जते थे।

वहां भी उन्होंने जान लिया कि पण्डित जी कहते तो हैं, परन्तु समीप क्यों नहीं जाते। इस से जैसे वे ताराचरण जी थे, वैसे ही उन्होंने जान लिये। फिर जब नव घण्टा बज गया, तब लोगों ने मेरे से कहा कि अब समय दश घण्टा का है। उठना चाहिए। बहुत रात आ गई।

फिर मैं और सब सभास्थ लोग उठे। उठके अपने-अपने स्थान में चले गये। फिर मैं बाग में चला आया। उसके दूसरे दिन वृन्दावनचन्द्र मंडल जी ने

मेरे से कहा कि उस वक्त ताराचरण भी आये थे। जब मैंने उनसे कहा कि सभा में क्यों नहीं आये ?

उन्होंने कहा कि वे तो बड़ा अभिमान करते हैं। तब मैंने उनसे कहा—जो अभिमान करता है, सो पण्डित नहीं होता। किन्तु वह काम मूर्ख का ही है। और जो पण्डित होता है, सो तो कभी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता। जो ताराचरण पण्डित जी अभिमान में डूबे जावें, तब तो उनको मेरे पास एक बार ले आइये। फिर वे अभिमान-समुद्र में डूबने से बच जायें तो अच्छा हो।

तब बृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप बाग में चलिये। और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा शास्त्रार्थ कीजिये। पण्डित जी की कुछ इच्छा न देखी, तब बृन्दावनचन्द्र से मैंने कहा कि आप उनसे कहें कि कुछ चिन्ता आप न करें। स्वामी जी ने हम से कह दिया है कि पण्डित जी प्रसन्नता से आवें। मैं किसी से विरोध नहीं रखता। तब तो पण्डित जी ने कहा हम चलेंगे।

सो मंगलवार की सन्ध्या समय में बहुत लोग नगर से शास्त्रार्थ सुनने को आये। :०:

बृन्दावनचन्द्र भी बहुत लोगों के साथ आये। तथा पाठशालाओं के अध्यक्ष श्री भूदेव मुकुर्ज्या आये। तथा श्री हरिहर तर्कसिद्धान्त पण्डित भी आये। उसके पीछे पण्डित ताराचरण जी सशिष्य तथा अपने ग्राम-निवासियों के साथ आये, जो कि उनके पक्षपाती थे।

ये सब लोग आ के सभा के स्थान में इकट्ठे भये। तब मैं भी उस स्थान में आया। फिर यथायोग्य बैठे। तब ताराचरण जी ने प्रतिज्ञा की कि हम प्रतिमा का स्थापन पक्ष लेते हैं। फिर मैंने कहा कि जो आपकी इच्छा हो सो लीजिये। मैं तो इस बात का खण्डन ही करूँगा।

तब उन ने मुझसे कहा कि संवाद में वाद होना ठीक है, वा जल्प अथवा वितण्डा। उन से मैंने कहा कि वाद ही होना उचित है। क्योंकि जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना कभी उचित नहीं। वाद गौतमोक्त लेना। तब उन्होंने भी स्वीकार किया।

फिर दूसरी यह प्रतिज्ञा उस समय में की गई कि चार वेद तथा चार उपवेद, छः वेदों के अंग और छः दर्शन मुनियों के किये तथा मुनि और ऋषियों के किये छः शास्त्रों के व्याख्यान, उन्हीं के वचन प्रमाण से ही कहना। अन्य कोई का प्रमाण नहीं। तब उस ने भी स्वीकार किया, मैंने भी।

:०: चैत सु० ११, संवत् १९३०, ८ एप्रिल, १८७३।

+तर्करत्न—पातंजल सूत्रम्—

चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः।

इति व्यासवचनम्।

तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी। उसको देखा। तब भी मिथ्या ही उसने लिखा। क्योंकि योग-शास्त्र पढ़ा होय, तब उस शास्त्र को जान सकता है। तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं। इससे उसने अशुद्ध लिखा। जो पढ़ा भया होता है, सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता। देखना चाहिये कि ऐसा पातंजल-शास्त्र में सूत्र ही नहीं है। किन्तु ऐसा सूत्र तो है—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी, इति।

सो इस सूत्र के व्याख्यान में "नासिकाग्रे धारयत" इत्यादिक वहां लिखा है। यह तो उसने जाना भी नहीं। इससे उनका लिखना भ्रष्ट है। फिर लिखते हैं कि—

इति व्यासवचनम्।

इस प्रकार का वचन व्यास जी ने कहीं योगशास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इससे यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है। फिर यह लिखा कि—

स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा आभोगः स च स्थूल-विषयत्वात् स्थूल इत्यादि।

यह भी उनका लिखना अशुद्ध ही है। क्योंकि प्रतिज्ञा तो ऐसी पूर्व की गई थी कि वेदादिक शास्त्र-वचनों से ही प्रतिमा पूजन का स्थापन हम करेंगे। और वचन फिर लिखा वाचस्पति का। इससे तर्करत्न की प्रतिज्ञा-हानि हो गई। प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया। क्योंकि— प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरमित्यादिक निग्रह स्थान होते हैं। यद्यपि हमको जय तथा पराजय की इच्छा कभी नहीं है, तथापि गौतम मुनि जी ने छब्बीस निग्रह स्थान लिखे हैं।

निग्रह स्थान सब पराजय के स्थान ही होते हैं। और, पहले प्रतिज्ञा की थी कि जल्प और वितण्डा न करेंगे। फिर जाति-साधन से प्रतिमा का स्थापन करने लगे। क्योंकि प्रतिमा भी स्थूल साधर्म्य से आती है।

स्वामी जी—

यावान् जागरितावस्थाविषयः तावान् सर्वः स्थूलः कुत, इत्यादि।

मैंने उनको ज्ञापक से जना दिया कि ये गृहस्थ हैं। इनकी अप्रतिष्ठा न हो

+ जहाँ-जहाँ तर्करत्न शब्द आवे, वहाँ-वहाँ ताराचरण पण्डित जी को जान लेना। और जहाँ-जहाँ स्वामी शब्द आवे, वहाँ-वहाँ दयानन्द सरस्वती स्वामी जी को जान लेना।

जाय। तदपि उसने कुछ भी नहीं जाना। जानें तो तब, जब कुछ शास्त्र पढ़ा हो। अथवा बुद्धि शुद्ध हो।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षेत्यादिक चौबीस प्रकार का शास्त्रार्थ जाति के विषय में गौतम मुनि जी ने लिखा है। इसके नहीं जानने से जल्प और वितण्डा तर्करत्न ने किये। क्योंकि—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ १ ॥

सप्रतिपक्षस्थापना हीनो वितण्डा ॥ २ ॥

जैसा कि इन सूत्रों का अभिप्राय है, वैसा ही तर्करत्न जी ने प्रतिमापूजन का स्थापन करने में जल्प और वितंडा ही किया।

इससे दूसरे बेर प्रतिज्ञा हानि उसने की। द्वितीय पराजय उनका हुआ।

यदुक्तं भवता तेनैव प्रतिमापूजनमेव सिद्ध्यत्येव तस्य स्थूलत्वात्।

इसमें तीन बेर 'एव' शब्द लिखने से यह जाना गया कि ताराचरण जी को संस्कृत का यथावत् बोध भी नहीं है। इससे तर्करत्न जी अभिमान में डूबे जाते हैं। क्योंकि हम बड़े पण्डित हैं। इस प्रकार का जो स्वमुख से कहना है, सोई विद्याहीनता को जनाता है। फिर लोकान्तरस्थ शब्द से मैंने उनको जनाया कि जो चतुर्भुज को आप लेते हो, सो तो वैकुंठ में सुने जाते हैं। "उप" अर्थात् समीप "आसना" अर्थात् स्थिति सो मनुष्य लोक में रहने वाला कैसे कर सकेगा? कभी नहीं, और, जो पाषाणादिक की मूर्ति शिल्पी की रची भई; सो तो विष्णु है नहीं। तब भी पंडित जी कुछ नहीं समझे। क्योंकि जो कुछ विद्या पढ़ी होती, अथवा सत्पुरुषों का संग किया होता, तो समझ जाते। सो तो कभी किया नहीं। इससे ताराचरण जी उस बात को न समझ सके। फिर एक कहीं से सुनी सुनाई ब्राह्मण की श्रुति विना प्रसंग से पढ़ी। सो यह है—

अथ स यदा पितॄनावाहयति पितृलोकेन तेन सम्पन्नो महीयते।

इस श्रुति से लोकान्तरस्थ की भी उपासना आती है। इस अभिप्राय से देखना चाहिए। इस श्रुति में उपासना लेशमात्र नहीं आती। क्योंकि यह श्रुति जिस योगी को अणिमादिक सिद्धि हो गई हैं, वह सिद्ध जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, उस-उस लोक को उसी समय प्राप्त होता है। सो जब पितृलोक में जाने की इच्छा करता है, पितृलोक को प्राप्त होके आनन्द करता है। क्योंकि—

तेन पितृलोकेन महीयते।

इत्युक्तत्वात्। ऐसे इच्छा मात्र से ही ब्रह्मलोकादिक में विहार करता है।

इससे इस श्रुति में मरकर उस लोक में जाता है, अथवा पितरों की उपासना इस लोक में करता है, इस अभिप्राय के नहीं होने से, ताराचरण जी का कहना मिथ्या ही है। इससे क्या आया कि अर्थान्तर का जो कहना है, सो निग्रह स्थान ही है। निग्रह स्थान के होने से पराजय हो गया।

स्वामी जी—

सर्वः स्थूल इत्यनेनेत्यादि देहान्तरगतस्य प्राप्तित्वादिति दिव्ययोग देहप्राप्तित्वाद्योगिनो न तु प्राकृतदेहस्य माहात्म्यमिदमित्यर्थस्य जागरूकत्वात् देहान्तरम्।

अर्थात् जो दिव्य योग सिद्धियों से प्राप्त होता है, उस देह से यह बात होती है। और जो अयोगी का देह नाम शरीर, उससे कभी यह बात नहीं होती।

तर्करत्न—

प्रथमतः अस्माभिरित्यादि०

दूषण अथवा भूषण का ज्ञान तो, विद्या होने से होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि दूषण तो आपके वचनों में है, परन्तु आपने नहीं जाने। यह आपकी बुद्धि का दोष है। जो आपने प्रत्यक्ष दिखाये दूषणों को भी नहीं जाना। ऐसे दूषणों को तो बालक भी जान सकता है।

तन्मध्ये प्रतिमापि वर्तते इत्येवेत्यादि०।

आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प और वितण्डा कभी नहीं।

स्वामी जी—

फिर बार-बार स्थूलत्व साधर्म्य से ही प्रतिमापूजन स्थापन किया चाहते हो। सो अपनी प्रतिज्ञा को आप ही नाश करते हैं। और फिर चाहते हो कि हमारा विजय होवे। सो कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि विजय तो पूर्ण विद्या और सत्य भाषण करने से होता है। सो आप में एक भी नहीं। इससे आप विजय की इच्छा कभी मत करो। किन्तु आपको अपने पराजय की इच्छा करनी, उचित है। किंच जो आप लोगों की इच्छा होवे, तो वेदादिक सत्यशास्त्रों को अर्थ-ज्ञान सहित पढ़ेंगे तथा पढ़ावेंगे, तब फिर आप लोगों का पराजय कभी न होगा। किन्तु सर्वत्र विजय ही होगा। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तत्वेनेत्यादि० छान्दोग्य०

दहर विद्यायामित्यादि० चेति।

उस श्रुति का एक अंश दार्ष्टान्ति में नहीं मिलने से, वह आपका कहना मिथ्या ही है। सो मैंने कह दिया। पहले उससे जान लेना।

यह किसने कहा कि जीवित पुरुष को उपासना का अधिकार नहीं है।

सो यह आपका कहना मिथ्या ही है। क्योंकि ब्रह्मविद्या का और पाषाणादिक मूर्तिपूजन का क्या प्रसंग है? कुछ भी नहीं। इससे यह भी अर्थान्तर है। अर्थान्तर के होने से निग्रहस्थान अर्थात् पराजय स्थान आपका है। सो आप यथावत् विचार करके जान लेवें।

तर्करत्न—

प्रथमतः अस्माभिः यत् भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते इत्येवेति।

आप जान लेवें कि साधर्म्य हेतु प्रमाण से ही बोलते हैं। इससे आपके कहे जितने दूषण हैं, वे सब आपके ऊपर ही आ गये। क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा अर्थात् वाद ही हम करेंगे, ऐसी प्रथमतः कह चुके हैं। फिर जल्प और वितंडा ही बारम्बार करते हैं। इससे अपना पराजय आप ही कर चुके। क्योंकि आपको जो विद्या और बुद्धि होती, तो कभी ऐसी भ्रष्ट बात न करते और निग्रहस्थान में बारम्बार न आते। आपको संस्कृत भाषण करने का भी यथावत् ज्ञान नहीं है। क्योंकि—

प्रथमतः अस्माभिः यत्

ऐसा भ्रष्ट असम्बद्ध भाषण कभी न करते।

किंच—

प्रथमतोस्माभिर्यत्

ऐसा श्रेष्ठ और संबद्ध संकृत ही कहते।

दृष्टान्ते सर्वविषयाणां साम्यप्रयोजनं नास्तीति।

यह भी आपका कहना भ्रष्ट ही है। क्योंकि मैंने कब ऐसा कहा था कि सब प्रकार से दृष्टान्त मिलता है। वह श्रुति एक अंश से आपके अभिप्राय से मिलती नहीं। इसमें मैंने कहा कि इस श्रुति का पढ़ना आपका मिथ्या ही है। ऐसा ही आपका कहना सब भ्रष्ट है।

स्वामी—

भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते०।

यह आपका जो कहना है, सो प्रतिज्ञान्तर ही है। क्योंकि स्थूलत्व तुल्य जो प्रतिमा में और गर्दभादिकों में है। इस हेतु से ही प्रतिमा-पूजन का स्थापन करा चाहते हो। सो फिर भी जल्प और वितण्डा ही आती है, वाद नहीं। इससे बारम्बार आपका पराजय होता गया। फिर भी आपको बुद्धि वा लज्जा न आई। यह बड़ा आश्चर्य जानना चाहिए कि अभिमान तो पंडितता का करें; और काम करें अपण्डित का।

तर्करत्न—

प्रतिमापि वर्त्तते इत्यादि अयं तु प्रकृतविषयस्य साधकः न तु प्रतिज्ञान्तरं इत्यादि।

स्वामी—प्रकृत विषय यही है कि प्रतिमापूजन का स्थापन, सो स्थापना वाद से और वेदादिक सत्यशास्त्रों के प्रमाण से ही करना। फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ के जल्प तथा वितण्डा और मिथ्या कल्पित वचन ये वाचस्पत्यादिकों के उनसे स्थापन करने में लग गये। अहो इत्याश्चर्य कि ताराचरण जी की बुद्धि विद्या के विना बहुत छोटी है। जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आपका दोष नहीं; किन्तु आपकी बुद्धि का दोष है। और आपके काम, क्रोध, अविद्या, लोभ, मोह, भय विषयासक्त्यादिक दोषों का दोष है। तर्करत्न जी ! यह आप देख लीजिए कि कितने बड़े-बड़े दोष आप में हैं ?

प्रथम तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन पक्ष लेके फिर जब कुछ भी स्थापना न हो सका।

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

अपने आप ही खण्डन प्रतिमा-पूजन का करने लगे कि भ्रममूल अर्थात् प्रतिमा-पूजन मिथ्या ही है। इससे आपके पक्ष का आपने ही खण्डन कर दिया। फिर मिथ्या ग्रन्थ, जो पंचदशी, उसके प्रमाण देने लग गये। और जो प्रथम वेदादिक जो बीस सनातन ऋषि मुनियों के किये मूल और व्याख्यान तथा परमेश्वर के किये चार वेद इनके प्रमाण से बोलेंगे, सो आपकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। प्रतिज्ञा के मिथ्या होने से आपका पराजय भी हो गया फिर—

भ्रान्तिरस्माकं न दूषणीया।

वह भी पहले आपका कहना है। सो कोई भी पण्डित न कहेगा कि भ्रान्ति भूषण होता है। यह तो आपकी भ्रान्त बुद्धि का ही वैभव है और जो सज्जन लोग हैं, वे तो भ्रान्ति को दूषण ही जानते हैं। तथा—

भ्रमः खलु द्विविधः। इत्यादि०

यह पंचदशी का वचन है। यह प्रतिज्ञा से विरुद्ध ही है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में इसकी गणना नहीं है।

पाषाणादि की रचित मूर्त्ति में देव बुद्धि का जो कर्त्ता है सो दीपप्रभा में मणिभ्रम की नाईं ही है, क्योंकि दीप तो कभी मणि न होगा, और मणि तो सदा मणि ही रहेगा। सो आपने मुख से तो कहा परन्तु हृदय में शून्यता के होने से कुछ भी नहीं जाना। ऐसा ही आपका सब कथन भ्रष्ट है। आपको जो कुछ भी ज्ञान होय, तब तो जान सकते, अन्यथा नहीं।

तर्करत्न जी ने आगे-आगे जो कुछ कहा है, सो-सो भ्रष्ट ही है। बुद्धिमान् लोग विचार लेवें। ताराचरण जी इस प्रकार के मनुष्य हैं कि कोई बुद्धिमान् के सामने जैसा बालक। और भाषण वा श्रवण करने के योग्य भी नहीं, क्योंकि जिसको बुद्धि और विद्या होती है, सोई कहने वा श्रवण में समर्थ होता है। सो तर्करत्न जी में न बुद्धि है, और न कुछ विद्या है। इससे न कहने, न सुनने में समर्थ हो सकते हैं। इनका नाम जो तर्करत्न कोई ने रखा है सो अयोग्य ही रखा है। क्योंकि—

अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।

यह गोतम मुनि जी का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् जिसका यथावत् स्वरूप ज्ञान न होवे, उसके ज्ञान के वास्ते कारण अर्थात् हेतु और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उपपत्ति अर्थात् यथावत् युक्ति से ऊह नाम वितर्क अर्थात् विविध विचार और युक्तिपूर्वक विविध वाक्य कहना, विनयपूर्वक श्रेष्ठों से, उसे तर्क कहते हैं। तर्क सो इसका लेशमात्र सम्बन्ध भी ताराचरण जी में नहीं होने से, तर्करत्न तो नाम अनर्थक है।

किन्तु इनके कथन में थोड़े से दोष मैंने दिखाये हैं। जैसा कि समुद्र के आगे एक बिन्दु। किन्तु उनके भाषण में केवल दोष ही हैं, गुण एक भी नहीं सो विद्वान् लोग विचार कर लेवें।

वेहीये ताराचरण जी हैं कि जब काशी नगर के पण्डितों से आनन्दबाग में सभा भई थी उसमें बहुत विशुद्धानन्द स्वामी तथा बालशास्त्री इत्यादिक पण्डित आये थे। उनके सामने डेढ़ पहर तक एक बात में मौन करके बैठे रहे थे। दूसरी बात भी मुख से नहीं निकली थी और जो उनका कुछ भी सामर्थ्य होता, तो अन्य पण्डित लोग क्यों शास्त्रार्थ करते। जब उसने—

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

कहा, तब उसी वक्त श्री भूदेव मुखर्ज्या आदिक श्रेष्ठ लोग उठ गये कि पण्डित आये तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने को, किन्तु वह अपना आप खण्डन कर चुके। पंण्डित कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसा कहके उठके चले गये। फिर अन्य पुरुषों से उसने कहा कि पण्डित हार गया।

स्वामी—

श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविघातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु।

ताराचरण जी से मैंने कहा कि आपके कहने से ही प्रतिमा-पूजन का विघात अर्थात् खण्डन हो गया और मैं तो खण्डन करता ही हूँ।

फिर पंडित जी चुप होके ऊपर के स्थान में चले गये। उसके पीछे मैं भी ऊपर जाने को चला। तब पंडित सीढ़ी में मिले। मैंने उनका हाथ पकड़ लिया।

श्रौर, कहा कि ऊपर श्राश्रो। फिर ऊपर जाके सब बृन्दावनचन्द्रादिकों के सामने उन पण्डित ताराचरण से मैंने कहा कि श्राप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं?

तब वे बोले कि मैं तो काक-भाषा का खण्डन करता हूँ। श्रौर सत्य-शास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूँ। श्रौर, पाषाणादिक मूर्त्ति-पूजन भी मिथ्या ही जानता हूँ। परन्तु मैं जो सत्य-सत्य कहूँ, तो मेरी श्राजीविका नष्ट हो जाये। तथा काशीराज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर कर देवें। इससे मैं सत्य-सत्य नहीं कह सकता हूँ। जैसे कि श्राप सत्य-सत्य कहते हैं।

देखना चाहिए कि इस प्रकार के मनुष्यों से जगत् का उपकार तो कुछ नहीं बनता; किन्तु श्रनुपकार ही सदा बनता है। विना सत्य उपदेश के उपकार कभी नहीं हो सकता। इतना मुझको श्रवकाश नहीं है कि मिथ्यावादी पुरुषों के साथ सम्भाषण किया करें। जो-जो मैंने लिखा है, इसमें इसी से सज्जन लोग जान लेवें।

(महर्षि के पत्र विज्ञापन, लेखराम पृ० २२३-२२५, दिग्विजयार्क पृ० ११)

प्रतिमा-पूजन विचार

इसके श्रागे जिन शब्दों के श्रर्थ के नहीं जानने से, टीकाकारों को भ्रम हो गया है, तथा नवीन ग्रन्थ बनाने वाले श्रौर कहने वाले तथा सुनने वाले को भी भ्रम होता है, उन शब्दों का शास्त्र रीति तथा प्रमाण श्रौर युक्ति से, जो ठीक-ठीक श्रर्थ है, उन्हीं का प्रकाश संक्षेप से लिखा जाता है। प्रथम तो एक प्रतिमा शब्द है।

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा।

श्रर्थात् प्रतिमानम् जिससे प्रमाण श्रर्थात् परिमाण किया जा , उसको कहना प्रतिमा, जैसे कि छटाँक, श्राधपाव, पावसेर, सेर, पसेरी इत्या॥ श्रौर य्ज्ञ के चमसादिक पात्र। क्योंकि इन से पदार्थों के परिमाण किये जाते हैं। ्ससे इन्हीं का ही नाम है प्रतिमा। यही श्रर्थ मनु भगवान् ने मनुस्मृति में लिखा —

तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥

पक्ष-पक्ष में, वा मास-मास में, श्रथवा छटवें-छटवें मास तु ा की राजा परीक्षा करे। क्योंकि तराजू की दण्डी में भीतर छिद्र करके, पारा उसमें डाल देते हैं। जब कोई पदार्थ को तौल के लेने लगते हैं, तब दण्डी को पीछे नमा देते हैं। फिर पारा पीछे जाने से चीज श्रधिक श्राती है। श्रौर, जब देने के समय में दण्डी श्रागे नमा देते हैं उससे चीज थोड़ी जाती है। इससे तुला की परीक्षा श्रवश्य करनी चाहिए। तथा प्रतिमान श्रर्थात् प्रतिमा की परीक्षा श्रवश्य करे। राजा

जिस से कि अधिक न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हों का ही नाम प्रतिमा। इसी वास्ते प्रतिमा के भेदक अर्थात् घाट बाढ़ तौलने वाले के ऊपर दण्ड लिखा है—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च ॥

यह मनु जी का श्लोक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि, जिसके ऊपर ध्वजा बाँधी जाती है, और प्रतिमा छटांक आदिक बटखरे, इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे। और, जैसा जिसका ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र, होवे, तो उससे पाँच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे। जो कुछ धनाढ्य होवे, तो पाँच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे। और जो बहुत धनाढ्य होवे, उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे। इससे सज्जन लोग बटखरा तथा चमसादिक यज्ञ के पात्र उन्हीं को ही प्रतिमा शब्द से निश्चित जानें।

दूसरा पुराण शब्द है—

पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।

जो पुराण पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराण। सो सदा विशेषण वाची ही रहता है। तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदि शब्द सब हैं। तथा उनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषण वाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है,। तथा, यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है, सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। यह पदार्थ पुराना है अर्थात् नया नहीं। और, यह पदार्थ नया है अर्थात् पुराना नहीं। जहां-जहां वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहां-वहाँ इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गोतम मुनि जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य, उसमें लिखा है।

वहां ब्राह्मण पुस्तक जो शतपथादिक. उनों का ही नाम पुराण है। तथा शंकराचार्य जी ने भी शारीरिक भाष्य में, और उपनिषद्भाष्य में, ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही पुराण शब्द से ग्रहण किया है। जो देखना चाहे सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहाँ-जहाँ प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवे, उसका नाम इतिहास है। और जहां-जहां वंश-कथा होवे ब्राह्मण पुस्तकों में, उसका नाम पुराण है। और ऐसे जो कहते हैं कि अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योंकि उस

बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में प्रमाण कहीं नहीं है। और कथा भी इन में अयुक्त ही है। इन का नाम कोई पुराण रक्खें, तो इन से पूछना चाहिए कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं ? सब ग्रन्थों से वेद ही पुराने हैं। और यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्ति हो जाय, उसके दसवें दिन पुराण की कथा यजमान सुने। सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक की कथा सुने और, जो ऐसा कहे कि ब्रह्मवैवर्तादिकों की क्यों नहीं सुने ? उससे पूछना चाहिये कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे, तब-तब किस की कथा सुनी थी। क्योंकि उस वक्त व्यास जी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहाँ थे। और जो ऐसा कहे कि व्यास जी युग-युग में थे, यह बात भी उसकी मिथ्या है। क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है। उसी वक्त व्यास जी और व्यास जी की माता आदिक वर्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या ही है। पुराण जितने ब्रह्मवैवर्त्तादिक वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते बना लिये हैं। व्यास जी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का किया एक भी पुराण नहीं है। क्योंकि वे बड़े विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन सत्य ही है तथा छः दर्शनों में उन के सत्य वचन देखने में आते ! मिथ्या एक नहीं। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और, जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब नष्ट हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।

तीसरा देवालय और चौथा देवपूजा शब्द है। देवालय, देवायतन, देवागार तथा देवमन्दिर, इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही हैं। क्योंकि जिस स्थान में देवपूजा होवे, उसके नाम हैं, देवालयादिक। और देव संज्ञा है परमेश्वर की। तथा परमेश्वर की आज्ञा जो वेद उसके मन्त्रों की भी देव संज्ञा है। देव जो होता है, सोई देवता है। यह बात पूर्वमीमांसा शास्त्र में विस्तार से लिखी है। जिसको देखने की इच्छा हो, वह उस शास्त्र में देख ले। जो कि शास्त्र कर्मकाण्ड के ऊपर है। वे जैमिनि मुनि के किये सूत्र हैं। यहाँ तक उसमें लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादिक देव जो देवलोक में रहते हैं, उसका भी पूजन कभी न करना चाहिये, एक परमेश्वर के विना। सो वेद में इस प्रकार से निषेध किया है कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।

यह यजुर्वेद की श्रुति है। ब्रह्मादिक जो देव, वे जब यज्ञ करते हैं, तब उनों से अन्य कौन देव हैं, जो कि उनके यज्ञों में आके भाग लेवें। सो उन से आगे कोई देव नहीं है। और जो कोई मानेगा तो उनके मत में अनवस्था दोष

आवेगा। इससे परमेश्वर और वेदों के मन्त्र उन को ही देव और देवता मानना उचित है। अन्य कोई नहीं।

अग्निर्देवतेत्यादिक जो यजुर्वेद में लिखा है, सो अग्नि आदिक सब नाम परमेश्वर ही के हैं। क्योंकि देवता शब्द के विशेषण देने से इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणम्॥ १॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ २॥

एतमग्निं वन्दत्येके, मनुमेके प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ३॥

इन श्लोकों से आत्मा, जो परमेश्वर, उसी का देवता नाम है। और, अग्न्यादिक जितने नाम हैं, वे भी परमेश्वर के ही हैं। परन्तु जहां-जहां ऐसा प्रकरण हो कि उपासना, स्तुति, प्रार्थना तथा इस प्रकार के विशेषण वहां-वहां परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं। किन्तु 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' सिवाय परमेश्वरके कोई में सब जगह नहीं ठहर सकता। और 'प्रशासितारं सर्वेषामित्यादिक' विशेषणों से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। क्योंकि सबका शासन करने वाला विना परमेश्वर से कोई नहीं। तथा सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पर पुरुष परमेश्वर से भिन्न, ऐसा कोई नहीं हो सकता है। निरुक्त में भी यह लिखा है कि—

यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः।

जहां-जहां देवता शब्द आवे, वहां-वहां उस नामवाले मन्त्र को ही लेना। जैसा कि 'अग्निर्देवता' इसमें अग्नि शब्द आया, सो जिस मन्त्र में अग्नि शब्द होवे, उस मन्त्र का ही ग्रहण करना। अग्निमीडे पुरोहितमिति' यह मन्त्र ही देवता है। अन्य कोई नहीं। इससे क्या आया कि परमेश्वर और वेदों के मन्त्र ही देव और देवता हैं। जिस स्थान में होम, परमेश्वर का विचार, ध्यान और समाधि करें, उसके नाम हैं देवालयादिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण भी है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिसेवनम्॥ १॥
स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैर्नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥

इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सोई देवपूजा है अन्य कोई

नहीं। और होम स्थान जितने हैं, वे ही देवलयादिक शब्दों से लिये जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार। क्योंकि 'अतिथिपूजनम् होमैर्देवानर्चयेत्।' अतिथियों का पूजन, नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं। और पाषाणादि मूर्त्ति स्थान देवालयादिक शब्दों से भी नहीं लेना तथा घण्टा-नादादि पूजा शब्द से भी कभी नहीं लेना। देवल और देवलक शब्द का यह अर्थ है कि—

यद्वित्तं यज्ञशीलानां, देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं प्रचक्षते ॥ १ ॥

यह मनु का श्लोक है। इसका अभिप्राय है कि जिन्हों का यज्ञ करने का शील अर्थात् स्वभाव होवे, उसका सब धन यज्ञ के वास्ते ही होता है। अर्थात् देवार्थ धन है।

यद्दैवं तदेव देवस्वम्

अर्थात् होम के लिए जो धन होवे, उसका नाम देवस्व है। सो भिक्षा अथवा प्रतिग्रह करके यज्ञ के नाम से धन लेके, यज्ञ तो करें नहीं, और उस धन से अपना व्यवहार करे, इसका नाम है देवल। सो इसकी शास्त्र में निन्दा लिखी है। देवपितृकार्य में उसको निमन्त्रण कभी न करना चाहिए। ऐसा उसका निषेध लिखा है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह होता है देवलक।

कुत्सितो देवलो देवलकः कुत्सिते इत्यनेन कन् प्रत्ययः।

देवलक तो अत्यन्त निन्दित है।

एक यह अन्धकार लोगों का देखना चाहिए कि—

विद्वान् भोजनीयः सत्कर्तव्यश्चेति।

विद्वान् को भोजन कराना चाहिये और उसका सत्कार भी करना चाहिये। इससे कोई की ऐसी बुद्धि न होगी कि पाषाणादिक मूर्ति को भोजन कराना, वा उसका सत्कार करना चाहिये। वह भी बात ऐसी ही है।

एक बात वे लोग कहते हैं कि पाषाणादिक तो देव नहीं हैं, परन्तु भाव से वे देव हो जाते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि भाव सत्य होता है, वा मिथ्या? जो वे कहें कि भाव सत्य होता है, फिर उनसे पूछना चाहिये कि कोई भी मनुष्य दुःख का भाव नहीं करता, फिर उसको क्यों दुःख होता है और सुख का भाव सब मनुष्य सदा चाहते हैं। फिर उनको सुख सदा क्यों नहीं होता? फिर वे कहते हैं कि यह बात तो कर्म से होती है। अच्छा तो आपका भाव कुछ भी नहीं ठहरा। अर्थात् मिथ्या ही हुआ है। सत्य नहीं हुआ। आपसे मैं पूछता हूँ कि अग्नि में जल का भाव करके हाथ डाले, तो क्या वह न जल जायेगा? किन्तु

जल ही जायेगा। इससे क्या आया पाषाण को पाषाण ही मानना और देव को देव मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इससे जो जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसको सज्जन लोग मानें।

काश्यादिक स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम, शिव, कृष्णादिक नाम स्मरण तथा तोबा शब्द वा यीसू के विश्वास से पापों का छूटना और मुक्ति का होना, तिलक, छाप, माला-धारण तथा शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव, क्रिश्चन और मुहम्मदी और नानक, कबीर आदिक सम्प्रदाय, इन्हों से पाप सब छूट जाते हैं। और मुक्ति भी हो जाती है। यह अन्यथा बुद्धि ही है। क्योंकि इस प्रकार के सुनने और मिथ्या निश्चय के होने से सब लोग पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं। कोई न भी होगा। कभी कोई मनुष्य पाप करने में भय नहीं करते हैं। जैसे—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, काशीक्षेत्रे विनश्यति।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति ॥ १ ॥

पंचक्रोश्यां कृतं पापमन्तर्गृह्यां विनश्यति।
अन्तर्गृह्यां कृतं पापमविमुक्ते विनश्यति ॥ २ ॥

अविमुक्ते कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ३ ॥

इत्यादिक श्लोक काशीखण्डादिकों में लिखे हैं। काश्यां मरणान्मुक्तिः कोई पुरुष इसको श्रुति कहता है। सो यह वचन उसका मिथ्या ही है। क्योंकि चारों वेदों के बीच में कहीं नहीं है। कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद् रच लिया है। किन्तु अथर्ववेद के संहिता में तथा कोई वेद के ब्राह्मण में इस प्रकार की श्रुति है नहीं। इससे यह श्रुति तो कभी नहीं हो सकती। किन्तु कोई ने मिथ्या कल्पना कर ली है। जैसे कि 'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं' इत्यादि श्लोक मिथ्या बना लिये हैं। इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से सदा पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे सब सज्जन लोगों को निश्चित जानना चाहिये कि जितने-जितने इस प्रकार के माहात्म्य लिखे हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। इन्हों से मनुष्यों का बड़ा अनुपकार होता है। जो कोई धर्मात्मा बुद्धिमान् राजा होवे, तो इन पुस्तकों का पंठन-पाठन, सुनना-सुनाना, बन्द कर दें और वेदादि सत्य शास्त्रों की यथावत् प्रवृत्ति करा देवे। तब इस उपद्रव की यथावत् शांति होने से सब मनुष्य शिष्ट हो जायें, अन्यथा नहीं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। (योग० समा० ३५) इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति ।

इससे प्रतिमा-पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और, बाह्यमुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना, योगी लोग को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और, जो होवे, तो मूर्तिमान् धन, पुत्र, दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता कोई की भी नहीं होती। इस वास्ते यह सूत्र लिखा—

विशोका वा ज्योतिष्मती (योग० समा० ३६)

इसका यह भाष्य है—

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पन्तत्र स्थिति-वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरंग-महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्र-मात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत् संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषय-वती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से, बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि इन्हों की, जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मिता मात्रा अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरंग, अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एकरस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है, अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं। तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।

सू०—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।। (योग० समा० ३८)

भाष्य०—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानावलम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ।

जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है, तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में, जब योगी ध्यान करता है, इस प्रकार आलम्ब से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है ।

सू०—यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ (योग० समा० ३९)

भाष्य०—यद्वाभिमतं तदेव ध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति । नासिकाग्रे धारयतो या गन्धसंवित् ।

इससे लेके 'निद्राज्ञानालम्बनं वा' यहां तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हों में से कोई स्थान में योगी चित्त को धारण करें ।

जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये ।

सू०—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (योग० विभू० १)

भाष्य०—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति । बन्धो धारणा नाभि हृदय मूर्द्धा ज्योति ।

अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, इत्यादिक देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे । तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र, इनमें चित्त लगावे, हृदय से । क्योंकि—

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (योग० स० पाद २८)

यह सूत्र है योग का । इसका योगी जप, अर्थात् चित्त से पुनः पुनः आवृत्ति करे । और इसका अर्थ जो ईश्वर, उसको हृदय में विचारे ।

सू०—तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० स० २७)

ओङ्कार का वाच्य ईश्वर है । और, उसका वाचक ओङ्कार है । बाह्य विषय से इनको ही लेना, और कोई को नहीं । क्योंकि अन्य प्रमाण कहीं नहीं ।

सू०—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (योग० विभू० २)

भाष्य०—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

तीन देशों में अर्थात् नाभि आदिकों में, ध्येय जो आत्मा, उस आलम्बन की, और चित्त की एकतानता, अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से

भिन्न न रहे, तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है, सदृशप्रवाह। जब चित्त प्रत्येक चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ।

सू०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (योग० विभू० ३)

जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई।

सू०—त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः। (योग० विभू० ७)

यमादिक पांच अङ्गों से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं। और यमादिक बहिरङ्ग हैं।

सू०—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ (विभू० २६)

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादिक तीन अङ्ग आभ्यन्तर के हैं। सो हृदय में ही योगी परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग ज्ञान से ही योगी जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है, और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जानें। क्योंकि—

सू०—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ (समा० २)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (समा० ३)

जब योगी चित्तवृत्तियों को निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उस चेतनस्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, अन्यत्र नहीं।

सू०—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। (योग० समा० ८)

विपरीत ज्ञान जो होता है, उसी को मिथ्या ज्ञान कहते हैं। उसको तो योगी छोड़ के ही होता है, अन्यथा कभी नहीं। इससे क्या आया कि कोई योग-शास्त्र से पाषाणादिक मूर्ति का पूजन कहे, सो मिथ्या ही कहता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

श्लोक

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रशरणा,
स को दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः ॥
श्रीदयानन्दसरस्वती स्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम् ॥

मूर्त्तिपूजा

(पं० जगन्नाथ से छपरा में शास्त्रार्थ—मई, १८७३)

स्वामी जी छपरा पधारे तो जनता को उनके शुभ आगमन की सूचना देने व अवैदिक पाखण्डों पर उनके समर्थकों को शास्त्रार्थ के लिए आहूत करने के लिये नगर में विज्ञापन वितरण किया गया। छपरे में यदि कोई पं० स्वामी जी से शास्त्रार्थ कर सकता था तो पं० जगन्नाथ थे। पौराणिक वर्ग उन्हीं के पास गये, और उनसे जाकर प्रार्थना की कि महाराज चलिये और नास्तिक दयानन्द से धर्म की रक्षा कीजिये। परन्तु पण्डित जी शास्त्रार्थ के नाम से कानों पर हाथ धर गये। उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थ करने से मुझे नास्तिक का मुख देखना पड़ेगा जिसका शास्त्रों में निषेध है और मैंने ऐसा किया भी तो मुझे कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

पण्डित जी के यह वचन सुनकर पौराणिक धर्म के पृष्ठपोषकों की आशाओं पर पाला पड़ गया। और वे तेजोहीन और हताश होकर वापस चले आये। महाराज ने जब यह सुना तो उन्होंने पण्डित जगन्नाथ को इस उलझन से निकालने का एक विलक्षण परन्तु सरल उपाय बताया। उन्होंने कहा कि यदि पण्डित महोदय मेरा मुख नहीं देखना चाहते हैं तो मेरे सामने एक पर्दा डाल दिया जाय और वह उसकी ओट में शास्त्रार्थ कर लें परन्तु शास्त्रार्थ करें तो सही।

अब तो पण्डित जी भी निरुपाय हो गये। जो प्रधान आक्षेप उन्हें था वह भी न रहा और उन्हें शास्त्रार्थ के लिये क्षेत्र में आना ही पड़ा। वह सभास्थल में दलबल सहित पधारे। महाराज के मुख के सामने वास्तव में पर्दा डाला गया। एक ओर महाराज बैठे और पर्दे के दूसरी ओर पण्डित जगन्नाथ आसन पर सुशोभित हुए और विचित्र और मनोरंजक ढंग से शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

प्रथम स्वामी जी ने पण्डित जी से कुछ प्रश्न स्मृतियों में से किये, जिनका